दृष्टि से सबसे पहले रस-सम्प्रदाय ही आता है।

रस-सम्प्रदाय

'रस' शब्द का अर्थ और इतिहास

रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। लोक में यह शब्द मुख्यतः चार विभिन्न रूपों में प्रचलित है—१. पदार्थों का रस अर्थात् साहित्य का रस —अम्ल, तिक्त, कषाय आदि, २. आयुर्वेद का रस, ३. साहित्य का रस, और

है, इसी से मिलता-जुलता मोक्ष या भक्ति का रस। साहित्य रस में रस से तात्पर्य है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़कर निकाले हुए द्रव का, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस अर्थ के ये दोनों अंग (अ) निचोड़, और (आ) स्वादु-गुण आगे चलकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। आयुर्वेद में रस से तात्पर्य है पारद का। साहित्य में रस से तात्पर्य है काव्यानन्द का, और मोक्ष रस का अर्थ है ब्रह्मानन्द। व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है—'रस्यते इति रसः', जो आस्वादित किया जाय वह रस है—**'रस आस्वादनस्नेहयोः'**। व्याकरण में इसकी व्युत्पत्ति और भी है **'सरते इति रसः'** अर्थात् जो बहे वह रस है। यहाँ रस में द्रवत्व और बहने का गुण मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार भी रस में दो विशेषताएँ मिलती हैं—द्रवत्व और स्वाद।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में स्वाद-आनन्द का गुण तो स्पष्टतः सर्व-सामान्य है ही, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा। द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्त्व का आशय भी प्रायः किसी-न-किसी रूप में निहित है ही। रस का पहला अर्थ वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है—**'इयानः कलशे रसम्'**[१]। यहाँ रस से तात्पर्य सोम-रस का है। अन्य वनस्पतियों के द्रव, दुग्ध और जल के अर्थ में भी इसका प्रयोग है। इसके अतिरिक्त स्वाद या गन्ध के लिए भी 'रस' शब्द वेदों में आता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में निश्चित रूप से रस का प्रयोग मधु के अर्थ में हुआ है—**'रसो वै मधु'**। आगे चलकर उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र **'रसो वै सः'**। **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'**[२] में रस का अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीर अर्थ मिलता है। यहाँ पर प्राण-तत्त्व (सार) और स्वाद दोनों अर्थों का सम्मिश्रण हो जाता है—परमात्मा रस है और रस अर्थात् चिदानन्द रूप है—**'रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः'**, जिसको प्राप्त करके आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है। इसी रस से ऋक्, यजु और साम की ऋचाओं की सृष्टि हुई :

ऋचामेव तद्रसेन···
यजुषामेव तद्रसेन···
साम्नामेव तद्रसेन···[३]

पंडितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणतत्व सिद्ध करने में श्रुति के

---

१. ऋग्वेद ९,६३,१३
२. तैत्तिरीय उपनिषद् २,७,१
३. छान्दोग्य उपनिषद् ४,१७,४-६

Scanned with CamScanner

इसी वाक्य का प्रमाण दिया है। वास्तव में, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का मत है, यह बहुत सम्भव है कि साहित्य के आदि आचार्यों ने रस का स्वरूप निर्धारित करने में इस वाक्य से प्रेरणा प्राप्त की हो और इसी के आधार पर काव्यानन्द के अर्थ में रस का प्रयोग किया हो—"जिस प्रकार योगी उस विज्ञानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार करके, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार करके काव्यानन्द का अनुभव करता है।" परन्तु इसके द्वारा रस का कोई निश्चित शास्त्रीय रूप स्थिर हो सका था, यह मानना अनुचित होगा। आगे चलकर कठ आदि उपनिषदों में और उनके आधार पर कालान्तर में दर्शनों में रस रसना की ऐन्द्रिय अनुभूति के पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है :

येन रूपं रसं·····एतेनैव विजानाति।[1]

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः।[2]

शब्द श्रवणेन्द्रिय का अनुभव है, स्पर्श त्वचा का, रूप नेत्र का, रस जिह्वा का, और गन्ध नासिका का। 'वैशेषिक दर्शन' में २४ गुणों के अन्तर्गत रस के इस रूप का विवेचन मिलता है। 'न्याय' का भी मत है :

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा।
सहकारी रसज्ञायाः नित्यत्वादि च पूर्ववत्।

'रामायण' और महाभारत' में 'रस' शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा विकास नहीं हुआ। 'रामायण' में रस का प्रयोग जीवन, रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों में ही हुआ है—केवल विष के अर्थ में उसका प्रयोग नया है, पर वह हमारे लिए अप्रासंगिक है। 'महाभारत' में भी वह जल, सुरा, पेय, गंध आदि का पर्याय है **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'** (गीता)—केवल दो-एक प्रयोग थोड़े नवीन हैं, जैसे काम और स्नेह के अर्थ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ऋग्वेद' से लेकर 'महाभारत' तक रस के लगभग अन्य सभी मुख्य-मुख्य अर्थों की उद्भावना हो चुकी थी परन्तु साहित्यिक रस का पारिभाषिक रूप अभी आविर्भूत नहीं हो पाया था।[3]

---

१. कठोपनिषद् २, १, ३

२. न्यायदर्शन १, १, १४

३. प्रसिद्ध कोशकार ब्लूमफ़ील्ड एवं मोनियर विलियम्स के साक्ष्यानुसार

रसो सव्वरसो रसाढे लिक्कारो विवरालयो,

श्रृंगारादौ इवे वीर्ये देहपालकमुपारद्धे। (इति विदव)

...में से 'श्रृंगारादि' का अन्तर्भाव अभी रस में नहीं हो पाया था, परन्तु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं। वैसे तो 'वाल्मीकि रामायण' के साधारणत: प्रचलित संस्करणों में बाल-काण्ड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है :

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्

जातिभिः सप्तभिर्बद्धम्, तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥८॥

रसैः श्रृंगार-करुण-हास्य-रौद्र-भयानकैः

वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥९॥

परन्तु बाल-काण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है। एकाध अत्यन्त विश्वासी विद्वान् को छोड़कर प्राय: सभी इस विषय में एकमत हैं।

इसके उपरान्त भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है, जिसमें हमें रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय रूप स्पष्ट मिलता है। भरत में रस का इतना सम्यक् एवं विस्तृत विवेचन मिलना ही इस बात का प्रमाण है और भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आर्या तथा अनुष्टुप् छन्द देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनसे पूर्व ही उसका शास्त्रीय और पारिभाषिक रूप, और शायद संख्या आदि भी अवश्य स्थिर हो गई थी। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नहीं। उन्होंने रस का विवेचन काव्य के आश्रय से नहीं किया, वरन् (नाटक के) प्रेक्षक की भाव-प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने के निमित्त ही किया है।

रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास

यों तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानती है, परन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचार्यत्व का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भरत ने भी प्रधानता तो वास्तव में रूपक को ही दी है। रस को तो उन्होंने, जैसा कि मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ, वाचिक अभिनय का अंग मानकर प्रतिपादित किया है। परन्तु फिर भी आज रस के विषय में भरत का ही सिद्धान्त सर्वमान्य है, अतएव उनको आद्याचार्य मानना अनिवार्य ही है। भरत के उपरान्त रस-सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यों ने उसे नाटक के उपयुक्त ही मानते हुए अलंकार और रीति आदि को काव्य की आत्मा माना।

रस-सिद्धान्त का पहला विरोधी आचार्य था भामह, जिसने अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हुए रस का रसवत्, ऊर्जस्वि और प्रेयस अलंकारों में अन्तर्भाव कर दिया। भामह के

Scanned with CamScanner

अनुयायी हुए दण्डी, उद्भट और रुद्रट, जो सभी अलंकारवादी हैं। दण्डी ने भी रस को उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत माना, परन्तु फिर भी उनकी दृष्टि अधिक उदार थी। पद-लालित्य-रसिक दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने अलंकार को छोड़कर रीति को काव्य की आत्मा माना। वास्तव में वामन का दृष्टिकोण दण्डी से अधिक भिन्न नहीं था। रस को उसने कान्तिगुण का मूल तत्त्व मानते हुए[1] उसकी प्रतिष्ठा और भी कम कर दी। उद्भट का योग केवल अभावात्मक ही न होकर भावात्मक भी था। रस को माना तो उसने भी रसवत् आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही, परन्तु उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म और विस्तृत रूप में किया। उसने समाहित नामक अलंकार की उद्भावना की, जिसमें भाव और रस की शान्ति का भी अन्तर्भाव हो सकता था। रसवत्, ऊर्जस्वि और प्रेयस् अलंकारों का भी विवेचन उसका भामह और दण्डी से पृथक् है। इसके अतिरिक्त कुछ पंडितों का मत है कि उद्भट ने ही शान्त रस की उद्भावना की थी। उद्भट पर भामह और भरत दोनों का प्रभाव था। उद्भट के उपरान्त रुद्रट का नाम आता है। रुद्रट वास्तव में अलंकार, रीति तथा ध्वनि-रस-सम्प्रदायों के संगम-स्थल पर खड़ा हुआ है। उसने रसों को स्पष्ट रूप से अलंकारों की दासता से मुक्त करते हुए विरोधी सिद्धान्तों को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित कर दिया कि रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पन्द होगी :

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमानधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥

—काव्यालंकार १२।२

सबसे पूर्व उसने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण इन चार भागों में विभक्त किया।

यह सब होते हुए भी भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार और रीति का ही प्राधान्य रहा, और रस का स्थान गौण रहा। काव्य-सिद्धान्त में इनकी प्रमुखता वास्तव में इतनी अधिक हो गई थी कि उस समय के रस-सिद्ध कवियों को इनके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने पडे। कालिदास और भवभूति दोनों ने अपने समकालीन आलोचकों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए सशक्त शब्दों में रस की प्रतिष्ठा की। कालिदास ने स्पष्टतः स्वाकार किया कि :

१. दीप्तिरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ० ३।२।१५

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

—मालविकाग्निमित्र १।४

भवभूति तो वास्तव में रसावतार थे—उन्होंने काव्य में चित्त की विद्रुति को प्रमाण मानते हुए करुण रस में अन्य सभी रसों का अन्तर्भाव किया। परन्तु कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियों ने रस की मान्यता स्वीकार करते हुए भी सामयिक सिद्धान्तों के आगे सिर झुका दिया था। उदाहरण के लिए बाण जैसे रसज्ञ कवि को भी आलंकारिक चमत्कार और प्रहेलिका आदि से खिलवाड़ करना पड़ा था।

इन विषमताओं का समाधान अन्त में आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना द्वारा किया। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर एक ओर उसने अलंकारवादियों की बाह्य साधना का अन्त कर दिया और दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की अव्याप्ति का परिहार भी कर दिया। रस-सिद्धान्त के अनुसार तो जहाँ विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति न हो वहाँ काव्यत्व की स्थिति मानना भी सम्भव नहीं है। परन्तु ध्वनिकार ने ध्वनि के रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि से तीन विभाग कर दिए। उन्होंने यद्यपि मुख्य रस-ध्वनि को ही माना तथापि वस्तु और अलंकार को भी काव्य में उचित स्थान दिया। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धान्त का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप ही मानना उचित है। 'ध्वन्यालोक' के उपरान्त अभिनवगुप्त के 'लोचन' की रचना हुई। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रतिभा के बल पर रस-स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियों का समाधान किया और इस प्रकार रस के महत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व का प्रामाणिक रूप से निषेध करते हुए व्यंजना की मान्यता स्थापित की और यह स्पष्ट किया कि रस के आस्वादन में व्यंजना किस प्रकार सभी व्यवधानों का नाश करती है तथा कटु भावों को भी मधुर रस की स्थिति तक पहुँचा देती है। अभिनवगुप्त साधुवृत्ति के दार्शनिक विद्वान् थे, अतएव स्वभावतः शान्त रस के प्रति उनका विशेष अनुराग था। उन्होंने शान्त रस का रसत्व ही सिद्ध नहीं किया, वरन् अन्य सभी रसों का उसके अन्तर्गत समाहार करते हुए उसे प्रधान रस भी घोषित किया। वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अभिनवगुप्त का स्थान अद्वितीय है, रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय उन्हीं को है।

अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का महिमभट्ट ने विरोध किया। उन्होंने व्यंजना की स्थिति का निषेध किया और श्री शंकुक के आधार पर रस को अनुमित माना।

Scanned with CamScanner

परन्तु उनका मत लोकप्रिय नहीं हुआ। रस का सबसे प्रबल पृष्ठपोषक राजा भोज ने किया। उन्होंने केवल एक रस—शृंगार—की ही स्थिति स्वीकार की, अन्य रसों का पृथक् अस्तित्व ही उनको मान्य नहीं था, उनका सिद्धान्त था कि अहंकार ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के द्वारा उद्दीप्त होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यह अहंवृत्ति, यह अभिमान ही शृंगार है, यही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति आदि भाव रस में कभी परिणत नहीं हो सकते, वे तो केवल रस की श्रीवृद्धि करते हैं, जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की द्युति-वृद्धि करती हैं। भोज के 'शृंगार-प्रकाश' में मौलिकता तो अधिक नहीं है, परन्तु अपनी व्यापकता और विस्तार के बल पर वह संस्कृत रसशास्त्र का विश्वकोष कहा जा सकता है।

भोजराज के उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ का नाम रस-सम्प्रदाय में विशेष-तया उल्लेखनीय है। मम्मट ने सभी प्रचलित सिद्धान्तों का स्वच्छ रीति से समाहार करते हुए ध्वनि और रस का समुचित व्याख्यान और प्रचार किया। रस-परम्परा में विश्वनाथ का योग मम्मट की भी अपेक्षा अधिक है, उन्होंने रस को ध्वनि से भी अधिक महत्त्व दिया। ध्वनिकार के विरुद्ध उन्होंने ध्वनि को रस के अन्तर्गत ग्रहण किया। ध्वनिकार ने रस को महत्त्व देते हुए भी उसे काव्य के लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं माना था; उसकी अनुपस्थिति में भी मध्यम या कम-से-कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव थी। परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्यों में भी काव्यत्व रस के कारण ही माना। उनमें भी रस का क्षीण-से-क्षीण आभास अवश्य होना चाहिए अन्यथा वे काव्य नहीं माने जा सकते। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने चित्र को काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया। परन्तु रस में उन्होंने चित्त की विद्युति की अपेक्षा चित्त के विस्तार को अधिक महत्त्व दिया और चमत्कार को उसका मूल तत्त्व माना, इसीलिए रसों में अद्भुत को उन्होंने प्रधानता दी। विश्वनाथ के इस रस-सिद्धान्त का उग्र विरोध अठारहवीं शताब्दी में पंडित-राज जगन्नाथ ने किया और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** को संकीर्ण कहकर उन्होंने काव्य को **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धि-तत्त्वों को भी काव्य में उचित स्थान दिया। पंडित-राज संस्कृत के दिग्गज विद्वानों में से थे। उनके उपरान्त संस्कृत साहित्यशास्त्र की परम्परा में कोई उल्लेखनीय नाम नहीं मिलता। बस, फिर रस-परम्परा भी जो उनके पूर्व से ही नायिकाभेद की संकुचित सरणि पर चलने लग गई थी, हिन्दी के रीतिकवियों के हाथ में आ गई।

Scanned with CamScanner